कितना कुछ सिखाते हैं बच्चे

दिलिप चुघ

यूं चलते-चलते अपनी ही बुनियाद में झांक लेना अपने-आपमें एक अच्छी चिंतनशील प्रक्रिया (Reflective Process) हो सकती है। मेरे लिए यह कभी-कभी पेशेवराना जरूरत होती है तो कभी-कभी अपने आधार के एहसास को अपने में जिन्दा रखने की जुगत। ऐसा ही कुछ होता है जब कभी अपने राजकीय विद्यालयों के शिक्षक साथियों से किन्ही विचारों (जैसे- सभी बच्चों में सीखने की जन्मजात क्षमताएं होती हैं) को लेकर जद्दोजहद चल रही होती है तो उनके बरक्स अपनी ही बुनियाद को झकझोरना पड़ता है, याद करना पड़ता है उसके बनने तक की प्रक्रिया और उसमे लगे जोड़-तोड़, ईंट-पत्थर और गारे को। मैं भी इसी शिक्षा व्यवस्था के परंपरागत ढांचे की उपज हूं इसके बावजूद एक बड़ा फर्क महसूस होता है कि कैसे मैं यह सब नई-नई बातें (बिना दण्ड भय के कक्षा, मातृभाषा का उपयोग, कक्षा-कक्ष में समृद्ध माहौल) मानने लगा। क्यों एक अलग स्तर की स्वीकार्यता और विश्वास बनता सा चला गया मुझमें, कि आज मुझे घंटों-घंटों की जद्दोजहद और चर्चाओं में थकान और बोरियत महसूस नहीं होती। इस लेख में उसके ही एक हिस्से भर की बात है। बहुत कुछ हुआ है इस आधार के बनने में। 45 दिन की पहली कार्यशाला और फिर शुरुआती काम में बच्चों के साथ एक नई व्यवस्था को स्थापित करने में हुआ संघर्ष, फिर उसके बाद की कई कार्यशालाएं, बैठकें, कुछ खास तरह की किताबों का अध्ययन, अलग-अलग तरह के प्रोजेक्ट और उसमें कई दोस्तों के साथ विमर्श। याद करने पर ये सभी कुछ एक फिल्म की तरह मन के स्क्रीन पर चलता-सा जाता है। हालंकि इस बुनियाद के हर ईंट-पत्थर और गारे का अपना महत्व है। लेकिन इन सबमें जो खास है वो कुछ वाकये हैं जो बच्चों के साथ काम के दौरान घटित हुए, जिन्होंने इन विचारों और मेरी समझ के बीच पुल का काम किया। इनके साथ मेरे संबंध और गहरे बना दिए। मेरे इस लेख में ऐसे ही कुछ वाकयों का जिक्र है।

''गोली खाकर आती हूं''

एक बार मैं बड़ी तन्मयता से बच्चों के बीच उनके साथ एक गीत 'हम लोग हैं ऐसे दीवाने' गा रहा था। बच्चे भी तन्मय होकर गीत की पंक्तियां दोहरा रहे थे। समूह में 1 से लेकर 5 तक के स्तर के बच्चे थे। इस गीत में एक पंक्ति है 'सच्चाई कि खातिर दुनिया में बापू ने गोली भी खायी थी' यह पंक्ति मेरे द्वारा गाते ही एक बच्ची ने मुझे बीच में ही टोका और कहा ''सर जी मुझे बुखार हो रहा है मैं बस गोली खाकर अभी आती हूं'' मैं अवाक! उसे देखता रह गया और वह उठकर चली गई। कैसे इस बच्ची ने संबंध जोड़ा होगा इस गीत के साथ? क्या मायने होंगे इस गीत के इस बच्ची के लिए? ऐसे कई सवाल उस दिन यह वाकया मेरे लिए छोड़ गया।

'डीर्राम (ड्रम) है'

एक बार बच्चों के बीच फ्लैश कार्ड फैलाकर उनके माध्यम से शब्दों की पहचान करवा रहा था। इन फ्लैश कार्डों में एक तरफ चित्र था और दूसरी ओर उनका नाम लिखा था। गमले का कार्ड एक बच्ची (उम्र 5-6 वर्ष) को दिखाकर मैंने पूछा ''बता ये क्या है?'' बच्ची बड़े गौर से उसे देखती रही। थोडा कार्ड को हाथ में लेकर इधर-उधर भी किया। फिर मुझे बड़े ही सहानुभूति वाले भाव से देखा (जैसे वह सोच रही हो ''बड़े प्यार से पूछ रहा है कुछ तो सोचकर बताना ही होगा'') मैं इतने समय में मन ही मन तय कर चुका था कि यह नहीं पहचान पाएगी। लेकिन वह बोली। वह बोली कि ''डीर्राम (ड्रम) है'' यह सुनकर एक बार तो मैं थोड़ा चौंका और मैंने फिर से उस कार्ड को ध्यान से देखा। वो सच में मुझे भी ड्रम जैसा दिखाई देने लगा। कितनी कोशिश की होगी उस छोटी-सी बच्ची ने! अपने सन्दर्भ में मौजूद कितनी चीजों से उस एक चित्र को मिलान करके देखा होगा मन ही मन? क्योंकि अपने 'सर' के सवाल का जवाब खोजकर देना ही था! मुझमें हिम्मत नही थी कि मैं उसके जवाब को गलत ठहरा पाता। मैंने धीरे से वह कार्ड टोकरी में सरका दिया बिना कोई प्रतिक्रिया किए।

'सर जी मोपे तो है ही नाय'

एक दिन बच्चों के साथ समूह (वैकल्पिक स्कूल के बच्चों का समूह) के नियमों पर चर्चा कर रहा था। क्योंकि मेरा वैकल्पिक स्कूल कुछ दिन पहले ही शुरू हुआ था। एक बेहतर व्यवस्था को बनाने के लिए यही सीखा था कि सामूहिक रूप से नियमों पर बच्चों के साथ बातचीत की जाए और एक दिन बातचीत करते-करते कि क्या-क्या नियम होने चाहिए कुछ नियम बन चुके थे। जैसे, सभी समय से स्कूल आयेंगे, एक दूसरे की बात सुनेंगे आदि। अब आगे चप्पल कहां और कैसे खोली जाए, इस पर बातचीत होने लगी। इस बातचीत में रेखा और नजराना दोनों बच्चियों का ध्यान नहीं था। मैंने ध्यान दिलाने की जुगत में नजराना से पूछा कि चप्पलों के बारे में क्या नियम बना है जरा बताना। बच्ची ने बड़े इत्मीनान से कहा ''सर जी मोपे तो है ही नाय'' (मेरे पास तो चप्पल है ही नहीं)! नियमों की ऐसी धज्जियां उड़ते और वह भी इतनी मासूमियत से, मैंने पहली बार महसूस की।

''पासा''

गणित के कुछ खेलों के लिए मैंने एक कायर्शाला में कागज मोड़कर उससे पासा बनाना सीखा था। मैंने वापस आते ही बच्चों के लिए वह पासा बनाया। चूंकि पासे की रचना प्रक्रिया को बच्चे देख नही पाए तो जब पहली बार उन्होंने वो पासा देखा तो सहज ही कुछ बच्चों ने पूछा ''सर जी इसके अंदर क्या है?'' मैंने कहा भई अंदर कुछ भी नहीं है।

मैंने तो इसे मोटे से कागज को मोड़ कर बनाया है। किसी दिन तुमको भी बनाना सिखाऊंगा। इस समय तक बच्चों की छुट्टी हो चुकी थी। मैं आने वाले कल की तैयारी के काम निपटाने में लगा था। बच्चे कुछ देर पासा लेकर उलट-पलट कर देखते रहे। मैं लिखा-पढ़ी के काम को निपटा कर वापस आया तो वे बच्चे जा चुके थे। मैं बाकी सामान को इकट्ठा कर बक्से में रखने लगा तो देखा एक ओर से पासा कुछ यूं खुला हुआ था जैसे रणक्षेत्र में उसे वीरगति प्राप्त हुई हो। ''आखिर देख लिया गया कि तुम्हारे अंदर क्या था।'' मैंने मुस्कुराते हुए पासे से कहा और बक्से को ताला लगा दिया।

ये तो केवल कुछ झलकियां मात्र हैं। और भी बहुत से छोटे-छोटे, लम्बे-लम्बे किस्से हैं। जिन्हें याद कर फिर से ''सोच (चिन्तन)'' में गोते लगाने का मन होता है और मुस्कुराने का भी। इन सब किस्सों के सन्दर्भ में अहम यह भी है कि बच्चों को मौका मिला था अपनी बात कहने का, सवाल पूछने का, गलतियां करने का। अगर इतना भर हो जाता है और ऐसे रिश्ते बच्चों के साथ बन जाते हैं तो मेरे हिसाब से आधा शिक्षण-शास्त्र तो ऐसे ही समझ में आ जाता है। या बच्चे ही हमें समझने पर मजबूर कर देते हैं। मैंने पाया है कि बच्चों की प्रतिक्रियाएं, गलतियां, सवाल, इच्छाएं, आदि पर शिक्षक अगर थोडा ठहर कर विचार करे तो वह बहुत से सिद्धांतो/मान्यताओं के साथ उनके तार जोड़

सकता है। और कुछ नए आयाम भी उन्हें दे सकता है। जैसे कि पहले वाले और दूसरे वाले वाक्यों में देखें तो साफ पता चलता है कि बच्चे स्कूल में मिलने वाले किसी नए अनुभव की व्याख्या अपने संदर्भ में ही करते है। उन्हें हम गलत कहकर नकार नहीं सकते।

तो बुनियाद वाली बात पर लौटते हुए मुझे उक्त अनुभव के कुछ निष्कर्ष यूं बनते से दिखते हैं।

शिक्षणशास्त्र को समझने की दृष्टि से बच्चों के साथ खास माहौल (जिसमें उन्हें अपनी बात कहने, सवाल पूछने और गलतियां करने के मौके मिले) में बिताया गया समय और उस पर चिन्तन-मनन उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि प्रशिक्षण, कार्यशालाएं, शिक्षण शास्त्रीय किताबों का अध्ययन और विमर्श।

हमारे समाज और शिक्षा तंत्र में बच्चों तथा बचपन के प्रति बन चुकी धारणाओं पर पुनर्विचार करने की जरूरत व्यापक फलक पर है। बच्चे अपने-आप में वयस्कों के लिए किसी किताब या संपूर्ण व्यक्तित्व से कम नहीं होते हैं। उनके साथ जितने गहरे में हम उतरते हैं उतने ही गहरे रिफ्लेक्शन हमें मिलते हैं। जबकि रटंत कक्षा-कक्ष प्रक्रियाएं, भय-तनावयुक्त माहौल और परीक्षाओं के नियंत्रण से भरी शिक्षा व्यवस्था और हमारे सामाजिक ताने-बाने की वजह से उनकी अपनी दुनिया के चित्र हम तक पहुंच ही नहीं पाते। ◆

लेखक परिचयः साहित्य में एम.ए. के बाद लगभग 14 वर्षों से विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों में कार्य। संप्रतिः अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन, टोंक में कार्यरत हैं।

विज्ञापन

parag
AN INITIATIVE OF TATA TRUSTS

लाइब्रेरी एडुकेटर सर्टिफिकेट कोर्स 2016 (हिन्दी)

पराग का लाइब्रेरी एडुकेटर कोर्स अपनी तरह का पहला कार्यक्रम है। यह पुस्तकालय कर्मियों, शिक्षकों व उन सभी लोगों के व्यावसायिक विकास के लिए है जो बच्चों व किताबों के साथ काम करते हैं। यह कोर्स प्रतिभागियों को सक्रिय एवं रचनात्मक पुस्तकालयों की कल्पना व संचालन में समर्थ बनाएगा, साथ ही यह बच्चों के साथ प्रभावी लाइब्रेरी सत्र डिजाइन करने के उनके कौशलों को विकसित करेगा।

लाइब्रेरी एडुकेटर सर्टिफिकेट कोर्स 2016 के लिए पराग आवेदन आमंत्रित कर रहा है।

- इस कोर्स की अवधि 7 माह है और यह 23 मई 2016 से शुरू होगा
- इस कोर्स में संपर्क (face-to-face) एवं स्व-अध्ययन (Self-study) के घटक होंगे
- 3 संपर्क घटकों की कुल अवधि 12 दिन (5+4+3) होगी
- स्व-अध्ययन अवधि में लेख, असाइनमेंट्स और एक फील्ड-प्रोजेक्ट शामिल होंगे
- इस कोर्स का माध्यम हिन्दी है
- कोर्स के दौरान प्रतिभागियों को सहजकर्ताओं का लगातार सहयोग मिलेगा
- ऑनलाइन फोरम के जरिए शिक्षकों व प्रतिभागियों के साथ नियमित चर्चाएँ होंगी
- बच्चों के बेहतरीन चुनिंदा साहित्य के अध्ययन का मौका मिलेगा

महत्त्वपूर्ण तारीखें:

कोर्स की शुरुआत : **23 मई 2016**

फॉर्म जमा कराने की अंतिम तिथि : **10 अप्रैल 2016**

कोर्स प्रोस्पेक्टस व आवेदन फॉर्म यहाँ से डाउनलोड करें : www.libraryeducators.in
अधिक जानकारी के लिए हमें कृपया इस पते पर लिखें : parag@tatatrusts.org